भक्ति में लालसा का लिंग निर्धारण

(पश्चिमी ज्ञान मीमांसा और मीरां)

माधव हाड़ा

अंग्रेज़ हो चाहे फ्रेंच या किसी अन्य देश का वासी, कोई भी इस मामले में एक शब्द में जवाब नहीं दे सकते; किसी के अपने देश का विशिष्ट दृष्टिकोण क्या है या उसकी आत्मा का वास्तविक स्थान कहाँ है? शरीर के अंदर जीवन की तरह यह आत्मा एक सीधी अवधारणात्मक वास्तविकता है। और जीवन की तरह, केवल तार्किक परिभाषाओं के माध्यम से इसे समझना बेहद मुश्किल है। बचपन से ही यह विभिन्न रूपों में, विविध मार्गों के माध्यम से हमारे अन्दर प्रविष्ट होती है; और यह हमारे ज्ञान, हमारे प्यार, हमारी कल्पना में समाहित हो जाती है।[1]

– रवींद्रनाथ ठाकुर

भारतीय साहित्य की कई ख़ूबसूरतियों में से एक उसमें प्रेम और विरह की निरंतर, सघन और मुखर मौजूदगी है। यह स्वर कहीं लौकिक, कहीं अलौकिक और कहीं लौकिक से अलौकिक होता हुआ है। भारतीय सौंदर्यशास्त्र भी साहित्य में इसकी व्यापकता को ध्यान में रखकर इसकी व्याख्या, विवेचन और वर्गीकरण करता है। यह विवेचन-वर्गीकरण और विवेचन आरंभ में जीवंत और बाद में कुछ हद तक यांत्रिक होता गया है, लेकिन यह बहुत स्वाभाविक है, क्योंकि शास्त्र अकसर कविता के पीछे चलता और यह उससे पिछड़ भी जाता है। भारतीय कविता में प्रेम और विरह की मौजूदगी को जानने-समझने की परंपरा भी बहुत पहले से है। भारतीयों सहित कुछ विदेशी विद्वानों ने इस तरह के प्रयास किए हैं। इस सदी की शुरुआत में भारतीय संत-भक्ति साहित्य के अमरीकी विद्वान जोन स्ट्रैटन हौली की पुस्तक *श्री भक्ति वोयसेज़*[2] में आयी और इसका हिंदी अनुवाद *भक्ति के तीन स्वर*[3] नाम से 2019 ई. में प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक तीन प्रमुख भारतीय संत-भक्तों- मीरां, सूर और कबीर पर एकाग्र है। हौली की ख्याति पाठानुसंधान और पाठनिर्भर आलोचना के लिए है। उन्होंने इस किताब में भी मीरां, सूर और कबीर की पाण्डुलिपियों के अन्वेषण और पाठ संपादन के साथ उनकी प्रामाणिकता पर भी विस्तार से विचार किया है। पुस्तक में मीरां से संबंधित दो आलेख- *पांडुलिपियों मे मीरां* और *लालासा की काया* संकलित हैं। यहाँ विवेच्य आलेख *लालसा की काया*[4] है, जिसमें हौली ने मीरां के केवल एक पद पर विचार किया है। मीरां के केवल पद पर इसलिए क्योंकि हौली के अनुसार कर्तारपुर गुरुग्रंथ साहिब में संकलित यही एक पद सबसे पुराना और *मीरां का हस्ताक्षरित* (*और हस्ताक्षर भी मौखिक रूप में दर्ज़ है*) है, इसलिए प्रामाणिक है। *लालसा की काया* मुख्यत: मीरां की कविता पर एकाग्र है, लेकिन अपनी धारणाओं की पुष्टि के लिए हौली ने इसमें दो पद सूरदास के भी उद्धृत किए हैं। आलेख में हौली जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, वे और सामान्य भारतीय, जिसकी स्मृति और संस्कार में प्रेम और विरह की लौकिक-अलौकिक और इनमें परस्पर आवाजाही की कविता की सदियों से मौजूदगी है, उसके लिए कुछ हद तक विस्मयकारी और चौंकानेवाले भी हैं। हौली द्वारा अपनी स्थापनाओं की पुष्टि के लिए कर्तारपुर गुरुग्रंथ साहिब का उद्धृत यह पद इस तरह है-

मनु हमारो बांधिउ माई कवल नैन आपने गुन
तीखण तीर बेधि सरीर दुरि गयो री माई
लागिउ तब जानिउ नहीं अब न न सहिउ जाई री माई
तंत मंत अऊखद करऊ तऊ पीर न जाई
है कौऊ ऊपकार करै कठिन दरदु माई
निकट हऊ तुम दुरि नहि बेगि मिलहु आई
मीरां गिरधर सुआमी देआल तन की तपन बुझाई री माई
कवल नैन आपने गुन अपने गुन बांधिऊ माई।[5]

इस पद के आधार पर हौली यह सवाल करते हैं कि *जिस साहित्य में स्त्री शरीर की सामान्य अवस्था को एक ऐसा रोग माना जाता है, जो पुरुष की अनुपस्थिति के कारण पैदा होता है, उस साहित्य को किस तरह लिया जाए?*[6] कुल मिलाकर हौली का इस सवाल का जवाब कुछ इधर-उधर के साथ यह है कि मीरां की कविता में पुरुष की अनुपस्थिति से उत्पन्न जो *विरह* है, वह भारतीय समाज की लैंगिक वास्तविकता, मतलब पुरुष वर्चस्व और उसकी प्रमुखता का नतीजा है। उनके अनुसार यह प्रेम और विरह सूर जैसे पुरुष कवियों के यहाँ भी स्त्री की पुरुष के लिए लालसा की तरह ही है और इसलिए यह मीरां या कि स्त्री की पुरुष के लिए लालसा से अलग नहीं है।[7] हौली आलेख के अंत में कुछ हद बहुत अटपटे और विचित्र निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि *विरह एक खेल है- स्त्री के वस्त्रों और उसकी भावनाओं से खेलने का खेल। यह देवता बनने का खेल है, जो खेल देव (या देवी) मनुष्य के साथ खेलते हैं। यह खेल लालसा का एक लिंग निर्धारित करता है।*[8]

भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष की विषमता की धारणा को स्वयंसिद्ध मानकर इस आधार पर इसके साहित्य का मूल्यांकन करने का शग़ल इधर पश्चिमी विद्वानों में बढ़ा है, लेकिन न तो यह भारतीय समाज के स्वभाव और चरित्र के अनुसार है, न ही यह युक्तिसंगत है। भारतीय परंपरा में प्रेम और विरह *व्याधि* नहीं है, यह भक्ति के प्रपत्ति रूप का विस्तार है, यह भक्ति साहित्य में सदियों से है और तर्क और युक्ति से इसकी कोई समझ बनाना बहुत मुश्किल काम है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने एक जगह लिखा है कि *प्रेम और स्नेह का रहस्य अति प्राचीन, दुर्गम है, वह अपनी सार्थकता के लिए तर्क निर्भर नहीं होता।*[9] प्रेम पर निर्भर भक्ति के भारतीय परंपरा में कई रूप हैं और इनके संबंध में कोई सार्वदेशिक सरलीकरण इसकी विविधता की अनदेखी करना है। भक्ति साहित्य के विद्वान ए.के.रामानुजन ने यह स्वीकार करते हुए लिखा है कि *भक्ति कई प्रकार की होती है, यद्यपि हम इसे एकवचन में कहते हैं। विविधता अपार है और हमें इसकी पहचान करनी चाहिए। भक्ति शिव, विष्णु या देवी पर एकाग्र है। पुरुषों और महिलाओं द्वारा भक्ति, बंगाल में भक्ति और कर्नाटक में भक्ति, प्रारंभिक भक्ति और बाद में भक्ति- ये सभी एक-दूसरे से अलग हैं। हमें इन विभिन्न रूपों के नए अध्ययन की ज़रूरत है।*[10] महत्त्वपूर्ण यह है कि धार्मिक या गैर धार्मिक, दोनों अर्थों में, प्रिय की अनुपस्थिति इस परंपरा में स्त्री-पुरुष, दोनों को विचलित करती है। ख़ास बात यह भी है कि पुरुष का विचलन स्त्री से अलग अपने ढंग का है और परंपरा में इसके कई उदाहरण भी हैं। कृष्ण भक्ति साहित्य में लालसा के स्त्री रूप में होने का कारण भी प्रपत्ति में ही है। इसका संबंध भारतीय समाज की कथित स्त्री-पुरुष असमानता से नहीं है।

भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष विषमता को पश्चिम ने स्वयंसिद्ध मान लिया है, लेकिन यह पूरी तरह सही नहीं है। ख़ासतौर पर मीरां के पंद्रहवी-सोलहवीं सदी का समाज में स्त्रियों की हालत और हैसियत प्रचारित से अलग है। भक्ति में प्रेम और विरह के संबंध में हौली ने जो धारणा बनायी है वो बहुत हद तक भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष विषमता संबंधी ढाँचागत असंतुलन पर निर्भर है, लेकिन असंतुलन की यह धारणा संपूर्ण भारतीय समाज का सच नहीं है। भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष की हालत और हैसियत लेकर भी कोई सरलीकृत और एकरूप निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। विरह *पुरुष का खेल* है और यह लालसा का लिंग निर्धारित करता है,[11] यह पूरे भारतीय समाज का सच नहीं है। यह मानना सदियों के विस्तार और निरंतरता में ऐतिहासिक ज़रूरतों

से विकसित भक्ति के एक ख़ास ढंग़ की अनदेखी करना है। हौली मीरां सहित सभी संत-भक्तों की कविता में वही देखते हैं, जो वे आग्रहपूर्वक देखना चाहते हैं और इस तरह उनसे बहुत कुछ ऐसा है, जो उनसे अनदेखा रह जाता है।

भक्ति का विकास दीर्घकालीन और जटिल प्रक्रिया में हुआ और उसका स्वरूप चरित्र भी इसीलिए बहुत विस्तृत, विविध और जटिल है। ये रूप एक-दूसरे से अलग भी हैं। ए.के.रामानुजन यह मुश्किल समझते हैं। उन्होंने भक्ति और देश भाषाओं के संबंध पर लिखते हुए इस मुश्किल का ज़िक्र किया है। वे लिखते हैं कि *मैं इन आंदोलनों के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं की तुलना में कविता के बारे में कुछ अधिक जानता हूँ। पाठक अपने-अपने क्षेत्रों और भाषाओं से उदाहरण और प्रति-उदाहरण प्रदान कर सकते हैं*।[12] भक्ति के प्रेम और विरह को *पुरुष के खेल* में सीमित करना अपनी सुविधा और तर्क अनुसार इनका सरलीकरण है। भक्ति का संबंध भारतीय चित्त और और आत्मा से है। रवींद्रनाथ ठाकुर की यह धारणा सही है कि शरीर के अंदर जीवन की तरह यह आत्मा एक सीधी अवधारणात्मक वास्तविकता है। और जीवन की तरह, केवल तार्किक परिभाषाओं के माध्यम से इसे समझना बेहद मुश्किल है।[13] यहाँ इस आलेख में हौली द्वारा अपनी स्थापनाओं के पुष्टि के लिए इस्तेमाल भारतीय समाज की स्त्री-पुरुष विषमता की धारणा और उसके साथ धार्मिक और गैर धार्मिक साहित्य में विरह की मौजूदगी पर विचार किया गया है। साथ ही मीरां को कविता के सरोकारों को *प्रेम और विरह* के बाहर भी पहचानने की कोशिश की गयी है।

1.

मीरां सहित की भारतीय कवियों के यहाँ प्रेम और विरह की निरंतर और सघन मौजूदगी सदियों से है। ख़ास बात यह है एक तो साहित्य में इसकी मौजूदगी, पुरुष और स्त्री दोनों के प्रेम और में विरह के रूप में बहुत प्राचीनकाल से है और दूसरे, इसके निरंतर प्रयोग का सम्बन्ध कुछ हद पारंपरिक कवि शिक्षा से भी है। हौली की धारणा है कि *इस तरह चीज़ें (विरह) स्त्रियों के ही पल्ले क्यों पड़ती है। आख़िर क्यों? क्योंकि बहुसंख्य हिंदू पुरुषों का मानना है कि स्त्रियाँ पुरुषों के मुक़ाबले में कमज़ोर होती हैं*।[14] यह बात कुछ अलग तरह से जयशंकर प्रसाद ने भी कही है कि भारतीय साहित्य में स्त्रियों की तुलना में पुरुष विरह विरल है।[15] यह धारणा पूरी तरह से सही नहीं है- भारतीय साहित्य में स्त्री के विरह के समानांतर पुरुष का विरह भी निरंतर और बहुत ध्यानाकर्षक है। *ऋग्वेद* के उर्वशी-पुरुरवा संवाद में विरही पुरुष पुरुरवा है।[16] भरत की ई. पू. चौथी सदी की रचना *नाट्यशास्त्र* में विप्रलंभ शृंगार का विवेचन हुआ है और ज़ाहिर है यह विवेचन तब हुआ होगा, जब इससे संबंधित साहित्य की दीर्घकालीन परंपरा उस समय मौजूद रही होगी। *नाट्यशास्त्र* सहित सभी सौंदर्यशास्त्रीय ग्रंथों में *विप्रलंभ* का स्त्री-पुरुष में वर्गीकरण और विभाजन नहीं है।[17] भास की रचना *स्वप्नवासवदत्ता* के पाँचवे अंक में पुरुष उदयन का वासवदत्ता के लिए विलाप है।[18] चौथी सदी की रचना घटकर्पर में आकाश में घिरे बादलों को देखकर एक स्त्री विरहिणी ने अपने विरह की व्यंजना की है।[19] *वाल्मीकि रामायण* में राम द्वारा सीता को प्रेषित विरह संदेश पुरुष विरह का अच्छा उदाहरण है।[20] कालिदास कृत मेघदूत इस परंपरा की श्रेष्ठ रचना है, जिसमें भी विरही पुरुष यक्ष मेघ के माध्यम से अपनी प्रेमिका को अपने विरह का संदेश भेजता है।[21] जयदेव के *गीत गोविंद* में राधा के लिए पुरुष कृष्ण का विरह है।[22] परवर्ती प्राकृत, अपभ्रंश और देश भाषा रचनाओं में विरह ख़ूब है। लोकोत्तर या आराध्य के प्रति प्रेम और विरह का विधान आलवार और नायनार संत-भक्तों से होता हुआ भागवत और फिर जयदेव और विद्यापति से होता हुआ कबीर, सूर मीरां सहित भक्ति पूरे भक्ति आंदोलन का यह लगभग मुख्य स्वर बन गया है। देशज कथा काव्यों में भी कई रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें पुरुष विरह है। रीतिकाल में तो स्वच्छंद कवि घनानंद, बोधा, आलम आदि की संपूर्ण रचना कर्म पुरुष की एकतफा लालसा

या विरह पर एकाग्र है। पुरुष और स्त्री विरह लोक रचनाओं में भी ख़ूब है और इनमें यह कहीं यह कवि समय की तरह, तो कहीं यह जीवंत मानवीय व्यथा-वेदना की तरह है। राजस्थानी-गुजराती के प्रसिद्ध लोक आख्यान में जेठवा-उजळी, सेणी-बीजानंद आदि में स्त्री के साथ विरही पुरुष भी है।[23] उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह पुरुष विरह भी स्त्री लैंगिक, जैसाकि हौली मानते हैं[24], नहीं है। यदि हौली की मानें तो फ़ारसी साहित्य में पुरुष के लिए स्त्री की लिए लालसा है, जिसका कारण जैसाकि वे कहते हैं कि वहाँ समाज में स्त्री की प्रमुखता होना चाहिए, लेकिन ईरानी के समाज में ऐसा नहीं है। वहाँ भी स्त्री की हालत और हैसियत कमोबेश भारतीय स्त्री जैसी ही है।

यह बात कुछ हद सही है कि भारतीय परंपरा में पुरुष भक्ति, जैसाकि हौली ने कहा है, स्त्री लैंगिक है। आशय यह है कि पुरुष भी स्त्री भाव से प्रिय या आराध्य के प्रति प्रेम और समर्पण का भाव रखता है।[25] ख़ासतौर पर कृष्ण भक्ति रूपों में तो प्रपत्ति या जिसे हौली *लालसा* कहते हैं, का यही स्त्री लैंगिक रूप है, लेकिन इसका भारतीय समाज मे कथित पुरुष प्रमुखता से कोई संबंध नहीं है। आसक्ति का भाव स्वाभाविक रूप से स्त्री में पुरुष की तुलना में अधिक होता है, इसलिए पूर्ण और सघन समर्पण के लिए भक्ति में इसके इस्तेमाल की शुरुआत हुई और भक्ति का यह ढंग लोकप्रिय होता गया। ज़ाहिर है, पहले भक्ति का यह प्रपत्ति रूप लोकप्रिय हुआ और और बाद में इसके शास्त्रीय विधान भी बन गये। भारतीय साहित्य और उसमें भी ख़ासतौर पर कृष्ण भक्ति साहित्य में पुरुष कवियों के यहाँ स्त्री लैंगिक विरह का भाव भारतीय समाज के वैचारिक और दार्शनिक संस्कार से है। जयशंकर प्रसाद ने अपने बहुचर्चित निबंध *काव्य कला* में भारतीय साहित्य की इस विशेषता को लक्ष्य करते हुए लिखा है कि *भारतीय साहित्य में पुरुष विरह विरल और विरहिणी का वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसक- मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष, माया स्त्री धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।*[26] हौली की मुश्किल यह है कि उनको इस तरह के दर्शनों में *पुरुषवादी दुर्गंध* आती है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत में लिखा *भागवतपुराण* इस मुद्दे पर अस्पष्ट हो *सकता है, लेकिन सोलहवीं सदी का हिंदी में लिखा पाठ सुस्पष्ट है। इस तरह की पुरुषवादी दार्शनिकता दुर्गंध देती है।*[27] भक्ति की परंपरा में विकसित दर्शनों को पुरुषवाद से जोड़ना युक्तिसंगत नही है। यह सही है कि अकसर सभी साहित्यिक परंपराओं में, जैसा होता है, भक्ति की परंपरा में विकसित दर्शन भी हमेशा जीवंत नहीं रहे। उनका यांत्रिकीकरण हुआ, इनमें से कुछ अपनी जगह ठहर भी गए, कुछ आगे चलकर नये भी बने और छठी-सातवीं सदी से शुरू हुई यह प्रक्रिया सत्रहवीं-अठारहवीं सदी तक जारी रही। भक्ति का जो श्रुत और लोक रूप विकसित हुआ उसमें ज़ोर प्रपत्ति पर ज़्यादा था, इसके प्रेम और विरह की भावनाएँ सीधे मानवीय स्वभाव का हिस्सा थीं और इनके लिए किसी ज्ञान आदि की अर्हता की ज़रूरत नहीं थी, इसलिए यह यह सहज स्वीकार्य हो गया। भक्ति का यह प्रपत्ति रूप दर्शनों की गूढ़ मीमांसा, वर्गीकरण और विभाजन से बहुत हद तक अलग भी हो गया। भक्ति के इस प्रपत्ति रूप के आकार लेने और लोकप्रिय होने में क्षेत्रीय ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ज़रूरतों की भी निर्णायक भूमिका थी। साहित्य में विरह की निरंतर मौजूदगी का नतीजा यह हुआ यह काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का विवेच्य हो गया। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के बाद यह मध्यकालीन कविशिक्षा ग्रंथों में भी आ गया। मीरां की कविता पर इन कविशिक्षा ग्रंथों का कोई सीधा प्रभाव नहीं है, लेकिन भारतीय काव्य परंपरा में विरह की निरंतर मौजूदगी में इन कविशिक्षा ग्रंथों की भी भमिका है। कई कवियों ने इन ग्रंथों को आदर्श मानकर भी काव्य रचनाएँ की हैं।

प्रेम और विरह भक्ति के प्रपत्ति रूप से जुड़े हुए हैं और प्रेम में प्रिय की अनुपस्थति में विरह और विचलन मानवीय स्वभाव है। मनुष्य का यही स्वभाव यदि प्रिय लोकोत्तर हो, तो भी बना रहता है। सही बात तो यह है कि जो लोक में होता है उसकी कल्पना मनुष्य लोकोत्तर में भी करता है। दअसल अपार्थिव भी पार्थिव का ही विस्तार है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता *वैष्णव कविता* यह बात बहुत अच्छी तरह से कही है। वे कहते हैं कि *हम जो चीज देवता को दे सकते हैं वही अपने प्रिय को देते हैं और प्रियजन को दे सकते हैं वही देवता को देते हैं! और हम पाएँगे कहाँ? देवता को हम प्रिय कर देते हैं और प्रिय को देवता!* (*देवतारे याहा दिते पारि, दिइ ताई / प्रिय जने, प्रिय जने याहा दिते पाई / ताई दिइ देवतारे आर पाबो कोथा? / देवतारे प्रिय करि, प्रियेर देवता!*)[28] इस तरह भक्ति के इस प्रपत्ति का रूप भारतीय समाज में कथित पुरुष-स्त्री विषमता से सीधे कोई संबंध बनता नहीं है।

2.

भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष विषमता की धारणा पश्चिम और उसके अनुवर्ती भारतीय विद्वानों में लगभग *मान्य सत्य* की तरह है, लेकिन यह पूरी तरह सही नहीं है। यह अवश्य है कि चौदहवीं पंद्रहवीं-सदी के भारतीय समाज में उन्नीसवीं सदी के यूरोप में प्रचारित समता, स्वाधीनता और न्याय जैसी अवधारणाएँ तो नहीं थी, लेकिन यह तय है कि उस समय यहाँ स्त्रियों के लिए कुछ हद तक पुरुष की तरह ही स्त्री होने की भी गुंजाइश थी। भारतीय समाज एकरूप समाज नहीं है और यहाँ इस संबंध में पर्याप्त वैविध्य है। यहाँ वर्णित मीरां का समाज भी सार्वदेशिक समाज नहीं है- यह केवल मीरां के समय में, उसकी सक्रियता तक सीमित क्षेत्रीय समाज है। यह संभव है कि यहाँ जो उदाहरण दिए गए हैं, दूसरे क्षेत्रों में इनके प्रति-उदाहरण मौजूद हों। स्त्रियों के संबंध में इस समाज का नज़रिया कुछ हद तक गतिशील और द्वंद्वात्मक था। यह स्त्रियों की हालत और हैसियत के मामले में आदर्श समाज नहीं था, जैसाकि कुछ पुनरुत्थानवादी प्रचारित करते हैं और यह उस तरह से ठहरा हुआ और पश्चिमी अर्थ में पूरी तरह पितृसत्तात्मक भी नहीं था, जैसाकि कुछ विद्वान इसको मानकर चलते हैं। इन दोनों ही पक्षों की मुश्किल यह है कि ये अपने निष्कर्ष संहिता और स्मृति ग्रंथों से निकालते हैं, जिनका इस समाज की दैनंदिन वास्तविकता से कोई बहुत लेना-देना कभी नहीं रहा। यह सही है कि इस समाज में स्त्रियों की पूजा की बात केवल मिथ है, लेकिन यह कहना कि वे केवल पुरुषों की संपत्ति थी, उनका केवल शोषण और उत्पीड़न होता था और उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे, पूरी तरह सही नहीं है। कुछ हद तक ऐसा भी होता था, लेकिन इसके साथ इस समाज में उनके सम्मान, सुरक्षा और संरक्षण की चिंताएँ भी थीं। यही नहीं, इस दौरान स्त्रियाँ प्रभावकारी ढंग से सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हस्तक्षेप भी करती थीं और कुछ हद तक उन्हें जीवन की स्वतंत्रता भी थी।

स्त्रियों के सम्मान और सुरक्षा, सामाजिक जीवन में उनकी भागीदारी और स्वतंत्रता के मामले में भी यह समाज पिछड़ा हुआ नहीं था। सभी तबकों में इनको लेकर कुछ परंपराएँ, प्रावधान और चिंताएँ थीं। समाज और घर-परिवार में इस दौरान स्त्रियों की निर्णायक भूमिका होती थी। सामंत स्त्रियों का जीवन कुछ हद तक अंत:पुर तक सीमित था, लेकिन ये अंत:पुर निष्क्रिय इकाई नहीं थे। सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इनका प्रभावकारी दखल था।[29] टॉड राजस्थान के क्षत्रिय वंशों का प्रशंसक था, इसलिए हो सकता है कि उसने कुछ अतिरंजित कहा हो, लेकिन उसका यह कहना कुछ हद तक सही है कि *राजपूत स्त्रियों का जीवन घरों के भीतर बहुत कुछ सीमित रहता है, परंतु उनके जीवन में दासता नहीं है।*[30] वे पत्नी, प्रिया, माता, संरक्षिका आदि के रूप में राजनीतिक और सामाजिक जीवन में प्रभावकारी ढंग से हस्तक्षेप करती थीं। मेवाड़ के शासक लाखा की पत्नी हंसाबाई ने पारंपरिक उत्तराधिकारी के स्थान पर अपने पुत्र मोकल को सत्तारूढ़ करवा कर मेवाड़ के

इतिहास की दिशा बदल दी थी। मेवाड़ के ही राणा सांगा की चहेती रानी करमेती का वर्चस्व बहुत बढ़ गया था। उसने अपने भाई सूरजमल के साथ मिलकर अपने बेटे विक्रमादित्य और उदयसिंह के लिए उतराधिकारी रत्नसिंह की इच्छा के विरुद्ध रणथंभोर की जागीर हथिया ली थी। रानियाँ ही नहीं, पासवानें भी कई बार राजनीति में दख़ल देती थीं। शासक या जागीरदार पति की असामयिक मृत्यु हो जाने पर उत्तराधिकारी के अल्पवय (नैनपण) होने की स्थिति में विधवा स्त्रियाँ कई बार संरक्षिका के रूप में राजकाज सँभालती थीं। राजस्थान के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं। बीकानेर के शासक रायसिंह की पत्नी गंगाबाई ने अपने बालक पुत्र सूरसिंह के कार्यकाल में सभी तरह राजकार्य संपन्न किए थे। जोधपुर के जसवंतसिंह की रानी ने अपने पुत्र अजीतसिंह को मुगलों से उत्तराधिकार दिलवाया था।[31] राजमाताएँ भी शासन में दख़ल रखती थीं। अंत:पुर में उनका प्रभाव होता था। कामदार, बडारण आदि उनके परामर्शानुसार कार्य करते थे। वे कई बार तीर्थ यात्राओं के दौरान दूसरे राज्यों के साथ कूटनीतिक और मैत्री संबंध बनाती थीं।[32]

मीरांकालीन समाज में यों तो सभी तबकों में स्त्रियों का सम्मान था, लेकिन क्षत्रिय जातीय समूहों में तो यह ख़ासतौर पर था। अलक्जेंडर किनलॉक फार्ब्स का यह कथन कि *यूरोपीय देशों के रीति-रिवाज़ों में और उनके द्वारा अपेक्षित मान हिंदू स्त्रियों को यहाँ के पुरुषों से न तो मिलता ही है और न उसकी आशा की जा सकती है*[33] निराधार है। कुमकुम संगारी आदि ने भी इस समाज में स्त्रियों के साथ लैंगिक भेदभाव और उनके शोषण-उत्पीड़न संबंधी पितृसत्तात्मक विधानों के जो विवरण दिए हैं[34] उनकी मौजूदगी केवल शास्त्रों तक सीमित है। इस समाज ने उनको अक्षरश: कभी नहीं अपनाया। टॉड ने क्षत्रिय जातीय समूहों में स्त्रियों के सम्मान की ख़ूब सराहना की है। वह लिखता है कि *संसार में किसी भी जाति ने स्त्रियों का उतना आदर नहीं किया, जितना कि राजपूतों ने किया है*।[35] क्षत्रिय शासक विवाहोपरांत भी स्त्री की पैतृक पहचान को कायम रखते थे। स्त्रियों को ससुराल में उनकी पैतृक पहचान जैसे सिसोदण, राठौड़, चौहान आदि से ही संबोधित किया जाता था।36 मध्यकाल में राजस्थान के क्षत्रिय जातीय समूहों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष और ख़ून-ख़राबा आम थे, लेकिन इनमें स्त्रियों के सम्मान का सभी ध्यान रखते थे। परिता मुक्ता का यह कहना कि इस दौरान अधिक शक्तिशाली विजेता कम शक्तिवाले राजा की स्त्रियों को बलात् हासिल कर लेते थे और वे भूमि की तरह वीरों के अधिकार में आती-जाती रहती थी,[37] ग़लत है। राजपूत स्त्रियों का सम्मान ही नहीं करते थे, बल्कि कभी-कभी वे इसके लिए अपनी जान पर खेल जाते थे। मेवाड़ में शरणागत सोलंकी हरराजोत की सुंदर कन्या तारादेवी के सौंदर्य की ख्याति सुनकर जब महाराणा रायमल के बेटे ने उसे देखने की आग्रह किया और नहीं मानने पर जब उसने बदनोर पर चढ़ाई की, तो तारादेवी के मामा रत्नसिंह ने उसे मार डाला और स्वयं भी मारा गया। महाराणा रायमल ने भी अपने बेटे को दोषी जानकर हरराजोत को कुछ भी नहीं कहा।[38] राठौड़ रणमल ने मेवाड़ के महाराणा मोकल की हत्या करने वाले उसके पासवानिये पुत्रों, चाचा और मेरा को मारकर जब उनकी और उनके साथियों की लड़कियों को राठौड़ों के घरों में डालना चाहा, तो मोकल के भाई सारंगदेव ने उनकी रक्षा की थी और इसका विरोध किया था।[39] सत्ता के लिए होने वाले अंत:संघर्ष में विजेता पक्ष अकसर पराजित पक्ष की स्त्रियों के सम्मान और सुरक्षा का पूरा ध्यान रखता था। सिरोही का राव सुरताण जब आंतरिक सत्ता संघर्ष में देवड़ा कल्ला से जीत गया तो उसने उसकी स्त्रियों को सुरक्षा और सम्मान के साथ उसके पास पहुँचा दिया था।[40] जोधपुर के मालदेव ने मेड़ता को पूरी तरह उजाड़ दिया था, लेकिन उसने वहाँ किसी भी स्त्री को अपमानित नहीं किया।[41]

अकसर पितृसत्तात्मक मानकर मीरांकालीन समाज में स्त्रियों को अरक्षित और असहाय मान लिया जाता है, लेकिन यह पूरी तरह सही नहीं है। यह समाज पश्चिमी अर्थ में पितृसत्तात्मक नहीं था। यहाँ स्त्रियों की सुरक्षा और स्वावलंबन की अपनी तरह की चिंताएँ भी थीं और

इसके लिए प्रावधान भी किए जाते थे। शासक राजवंशों में अंत:पुर आर्थिक दृष्टि से कुछ हद तक स्वायत थे। रानियों, बहन-बेटियों और पासवानों आदि के आर्थिक स्वावलंबन के परंपरिक प्रावधान थे। रानियों को विवाह आदि अवसरों पर जागीरें दी जाती थीं। वे इनसे होने वाली आय को ख़र्च करने के लिए लगभग स्वतंत्र थीं। रानियाँ अपनी आय से दान-पुण्य और तीर्थाटन करती थीं और भवन-बावड़ियाँ आदि बनवाती थीं। महाराणा सांगा ने अपनी पुत्रवधू मीरां को विवाह के अवसर पर माँडल और पुर के परगने हाथख़र्च में दिए थे। मीरां इन जागीरों से होने वाली आय और संचित धन से ही दान-पुण्य और साधु सेवा करती थी। तीर्थाटन, दास-दासियों आदि का व्यय भी वह इसी आय से करती थीं।[42] 1662 ई. में जोधपुर के शासक गजसिंह ने रानी प्रतापदे को पटरानी करने पर सात गाँवों का पट्टा और धनराशि दी।[43] बहन-बेटियों को भी आत्मनिर्भर बनाने के लिए जागीरों के पट्टे दिए जाते थे। महाराणा राजसिंहकालीन पट्टा बहियों में सामंतों के साथ जागीरें प्राप्त बहन-बेटियों के भी नामोल्लख हैं।[44] सामंत स्त्रियाँ अपनी जागीरों को उपभोग ससुराल छोड़कर पीहर चले जाने पर भी निर्बाध करती थीं। शासक इनमें हस्तक्षेप नहीं करते थे। जागीरें सामंत स्त्रियों को ही नहीं, पासवानों और खवासनों को भी दी जाती थीं। जागीरों के अतिरिक्त अंत:पुर की स्त्रियों को राज भंडार से नियत खाद्य सामग्री और धनराशि भी मिलती थीं। पर्व-त्योहारों पर इस सामग्री और राशि को बढ़ा दिया जाता था।[45] बँटवारे में स्त्रियों को महत्त्व दिया जाता था। कुछ राजपूतों में बँटवारा लुगइयाँ रे लारे, मतलब स्त्रियों के आधार पर होता था। एक व्यक्ति की दो स्त्रियाँ और पाँच पुत्र हैं, तो संपत्ति स्त्रियों के आधार पर दो भागों में बाँटी जाती थी।[46] समाज के दूसरे तबकों में भरण-पोषण और संपत्ति को लेकर स्त्रियों के कुछ अधिकार थे। समाज और शासन, दोनों ही इन अधिकारों की रक्षा करते थे। स्त्रीधन संबंधी कुछ पारंपरिक प्रावधान थे, जिनके अंतर्गत माता-पिता और अन्य परिजनों द्वारा उपहारस्वरूप दी गई भूमि, आभूषण आदि स्त्री की निजी संपत्ति माना जाते थे। समाज के सभी तबके स्त्री धन संबंधी इन प्रावधानों पर सख़्ती से अमल करते थे। विवाहिता स्त्री के भरण-पोषण का दायित्व उसके पति पर होता था और पति की मृत्यु के बाद वही उसकी संपत्ति की मालिक होती थी। विधवा स्त्री के भरण-पोषण उसकी संतान करती थीं। निस्संतान विधवा को गोद लेने का अधिकार था और इस संबंध में उसकी इच्छा सर्वोपरि मानी जाती थी। अविवाहित, विवाहित, विधवा, सभी स्त्रियों को कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा प्राप्त थी। अविवाहित स्त्री के साथ दुराचार को समाज और शासन गंभीर अपराध मानते थे। विवाह के लिए किए गए संबंधों को सामाजिक सुरक्षा प्राप्त थी। संबंध तोड़ने वालों को समाज और शासन दण्डित करते थे। विवाहिता स्त्री का समाज में विशेष सम्मान था। कभी-कभी पुरुष एकाधिक विवाह करते थे, लेकिन सामाजिक सम्मान की हक़दार प्रथम विवाहिता ही होती थी। समाज और शासन परित्यक्ताओं का भरण-पोषण भी सुनिश्चित करते थे।[47]

मीरांकालीन समाज में विधवा स्त्रियों की सक्रियता सीमित थी, लेकिन वे सर्वथा उपेक्षित और अरक्षित नहीं थीं। समाज और शासन मृतक पति की संपत्ति पर उनका स्वामित्व सुनिश्चित करते थे और उनके भरण-पोषण के लिए उनके बेटों या परिजनों को बाध्य करते थे। विधवाओं की सामाजिक सक्रियता सीमित थी, लेकिन धर्मशास्त्रों में उनसे जिस तरह का जीवन और आचरण अपेक्षित था यथार्थ में वैसा होता नहीं था। लोक में वैधव्य संबंधी शास्त्रीय प्रावधानों का महत्त्व केवल प्रतीकात्मक था। विधवा स्त्री औपचारिक तौर पर नौ महीने तक खूणे यानी घर के किसी एकांत स्थान पर रहती थी और भूमि पर शयन करती थी और साधारण भोजन करती थी। इसके बाद पीहर वाले उसका शोक भंग करते थे।[48] बाद में वह ससुराल में जीवन व्यतीत करती थी या निर्वाह नहीं होने की स्थिति में पीहर वाले उसे अपने पास ले जाते थे। विधवाएँ पुनर्विवाह भी करती थी। मीरां के समाज के लगभग 80 प्रतिशत समाजों

में विधवाओं के पुनर्विवाह होते थे। राजवंशों की विधवा बहन-बेटियां बहुत सम्मानपूर्वक अपने पीहर में जीवन व्यतीत करती थीं। मेवाड़ के महाराणा रायमल ने अपनी विधवा बहन रमाबाई को जावर का परगना दिया था। रमाबाई आजीवन मेवाड़ में रही और उसने दानपुण्य, तीर्थाटन आदि के साथ जावर में एक मंदिर बनवाया।[49] महाराणा अरिसिंह की बेटी चंद्रकुँवरी का वैधव्य भी मेवाड़ में ही व्यतीत हुआ और उसने यहाँ रहते हुए उदयपुर और जयपुर राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया। उसके नाम से एक चाँदोड़ी सिक्का भी चला।[50]

मीरां के समय में स्त्रियों को जीवन की पूर्ण स्वतंत्रता तो किसी भी समाज में नहीं थी, लेकिन यहाँ का समाज कुछ इस तरह का था इसमें स्त्रियों को कुछ हद तक अपने ढंग से जीवन यापन के अवसर थे। इस समाज में कुछ हद तक स्त्रियों के साहस और स्वेच्छाचार को भी मान्यता थी। वैवाहिक संबंधों में यों तो माता-पिता की इच्छा सर्वोपरि होती थी, लेकिन इसके अपवाद भी होते थे। किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमति ने अपने पिता की अवज्ञा कर मेवाड़ के महाराणा राजसिंह को अपने विवाह के लिए निमंत्रित कर लिया था। बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह की बहन ने अपने भाई के इच्छानुसार नरवर के राजा के साथ विवाह अस्वीकार कर दिया था।[51] धर्म और शास्त्र भले ही स्त्री को एक विवाह की ही अनुमति देते हों, लेकिन मीरां के समाज में स्त्रियों को पुनर्विवाह की आज़ादी थी। यहाँ के 90 प्रतिशत समाजों में नाता, मतलब पुनर्विवाह होता था। स्त्रियाँ विधवा होने की स्थिति में या सधवा हो तो निर्वाह नहीं होने की स्थिति में नाता कर सकती थी। यह प्रथा कुछ हद तक उच्च मानी जाने वाली जातियों में भी थी। नाता विवाह को सामाजिक मान्यता थी और नातरायत स्त्री के हक-हकूक भी कमोबेश वही थे, जो एक विवाहित स्त्री के होते हैं।[52] आमतौर पर विवाह जातियों के अंदर होते थे, लेकिन अंतर्जातीय विवाहों के लिए भी गुंजाइश थी। अन्य जाति की स्त्री जब किसी पुरुष से विवाह कर लेती थी, तो इसको घर में घुसना कह जाता था। यों इसे अच्छा नहीं माना जाता था, लेकिन समाज में धीरे-धीरे इसको स्वीकृति मिल जाती थी। समाज के उच्च कहे जाने वाले वर्गों-सामंतों, जागीरदारों और राजकाज से संबद्ध अधिकारियों में अंतर्जातीय विवाह पासवान, पड़दायतन, खवासन आदि रखने के रूप में होता था। इसको सामाजिक मान्यता थी और ऐसी स्त्रियों के हक-हकूक भी कमोबेश वही होते थे, जो विवाहित स्त्रियों के होते हैं।[53]

यह सही है कि मीरां के समय और समाज में सती प्रथा थीं, लेकिन एक तो यह बहुत व्यापक नहीं थी और दूसरे यह स्वैच्छिक थी। उपनिवेशकालीन इतिहासकारों और नए स्त्री विमर्शकारों ने इस संबंध जो विवरण दिए हैं वे अपनी धारणाओं को पुष्ट करने के लिए गढ़े गए लगते हैं। राजसिंहकालीन (1652 से 1680 ई.) *राजरत्नाकरमहाकव्य* में वर्णित मेवाड़ के इतिवृत्त में इसके रचनाकार सदाशिव ने किसी भी रानी के सती होने का उल्लेख नहीं किया है,[54] जबकि इस तरह का उल्लेख सम्मानजनक था। इससे स्पष्ट है कि यह प्रथा अधिक व्यापक रूप में प्रचलित नहीं थी। फार्ब्स का यह कहना कि यह *राजपूतों में तो लगभग अनिवार्य थी*[55] पूरी तरह ग़लत है। असुरक्षा की भावना तथा पुण्य या यश के प्रलोभन के परोक्ष दबाव में कुछ स्त्रियाँ जरूर सती होती थीं, अन्यथा यह पूरी तरह स्वैच्छिक थी। यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि मेवाड़ में हम्मीर से लगाकर सांगा तक किसी भी शासक की रानी के सती होने का साक्ष्य नहीं मिलता। राणा सांगा की 28 रानियों में से कोई सती नहीं हुई थी।[56] बाद में भी किसी शासक की सभी रानियाँ एक साथ कभी सती नहीं हुईं। मीरां के समय में यह प्रथा मेवाड़ राजवंश में भी प्रविष्ट हुई। मीरां के ससुर सांगा के बड़े भाई पृथ्वीराज के निधन पर उसकी 16 स्त्रियाँ सती हुई थीं।[57] कुंभलगढ में किले में कुंभस्वामी मंदिर के सामने, जहाँ पृथ्वीराज का दाह संस्कार हुआ था, अभी भी एक छतरी बनी हुई है। मीरां के देवर रत्नसिंह और विक्रमादित्य की चार-चार रानियों में से दो-दो ही सती हुईं, जबकि उदयसिंह की 20

रानियों में से एक भी सती नहीं हुई। मीरां भी सती नहीं हुई थी। महाराणा प्रताप की 14 रानियों में से केवल एक ही सती हुई।[58]

राजवंश की स्त्रियों को भक्ति, सत्संग और तीर्थाटन की भी छूट थी। महाराणा कुंभा की विधवा राजकुमारी रमाबाई कृष्ण भक्त थीं। उसने अपनी जागीर जावर में रामस्वामी मंदिर और कुभंलगढ़ में विष्णु के स्वरूप दामोदर का मंदिर बनवाया था। जावर के रामस्वामी मंदिर के शिलालेख की प्रशस्ति के दूसरे भाग रमावर्णन से लगता है कि रमाबाई सुन्दर, कलाप्रेमी और कृष्ण भक्त थीं।[59] मंदिर अंत:पुर में भी होते थे।[60] सामंत स्त्रियाँ तीर्थ यात्राएं करती थीं। मेवाड़ में मीरां के पहले और बाद में द्वारका की तीर्थयात्रा करने वाली सामंत स्त्रियाँ कई हैं। मीरां से पहले मोकल की महारानी और मीरां के बाद महाराणा जगतसिंह की मां द्वारिका की तीर्थ यात्रा पर गई थीं।[61]

3.

मीरां की कविता को केवल एक पद के आधार पर भारतीय समाज के कथित स्त्री-पुरुष विषमता संबंधी *ढाँचागत असंतुलन* और *विरह के खेल* में सीमित करना युक्तिसंगत नहीं है। मीरां की कविता की श्रुत परंपरा बहुत पहले से है और निरंतर जीवंत है और इस परंपरा को महज मूल, *हस्ताक्षरित* और दस्तावेज़ी नहीं होने के कारण अप्रमाणिक ठहराना उचित नहीं है। हौली यह भी कहते हैं कि *उनकी (मीरां) की कविताएँ स्त्री-पुरुष विषमता को मजबूत करने के बजाय प्राय: स्त्री भूमिकाओं को आधार बनाकर विकसित होती हैं, हालाँकि इसे आप यहाँ उद्धृत कविता के आधार पर नहीं जान सकते। निचली जातियों, किसानों और घुमंतु गायक-गायिकाओं द्वारा जिन कविताओं को मीरां का बताया गया है, उनमें हम उनके स्त्रीरूप का कहीं ज़्यादा आक्रामक चित्रण पाते हैं।*[62] पहली बात तो यह कि मीरां के उपलब्ध लिखित पाठ और *निचली जातियों, किसानों और घुमंतु गायक-गायिकाओं द्वारा जिन कविताओं को मीरां का बताया गया है* [63] उनमें कोई बहुत अंतर नहीं है। मीरां के जनसाधारण में प्रचलित *हरजस* उसके उपलब्ध लिखित पाठों का ही रूपांतर है और इसमें जो फेरफार हुआ है, वो बहुत मामूली क्षेत्रीय ज़रूरतों के अनुसार हुआ है। मीरां की कविता की लिखित से श्रुत और श्रुत से लिखित में आवाजाही सदियों से है। दूसरा विचित्र बात यह है कि *मीरां के स्त्रीरूप के कहीं ज़्यादा आक्रामक* को पुष्ट करने के लिए जिन निचली आदि जातियों में प्रचलित मीरां की कविताओं का उदाहरण हौली देते हैं, वे स्वयं इनको प्रामाणिक नहीं मानते। अपनी धारणा की पुष्टि के लिए मीरां की लोक में प्रचलित रचनाओं के बजाय वे खुद ही उसके मूल हस्ताक्षरित केवल एक पद का सहारा लेते हैं और आधार पर भारतीय समाज स्त्री-पुरुष असमानता विषयक ढाँचागत असंतुलन का निष्कर्ष भी निकाल लेते हैं।

मीरां की कविता [64] के सरोकार बहुत व्यापक और विविध प्रकार के हैं और बहुत हद तक ये जागतिक हैं। उसकी कविता भी अलग और ख़ास प्रकार की है, जिसको किसी पारंपरिक वर्गीकरण में नहीं रखा जा सकता। प्रेम और विरह उसकी कविता में है, लेकिन यह उससे आगे और अलग भी है। यहाँ तक कि उसका अध्यात्म और प्रेम-विरह भी पारंपरिक संत-भक्तों से अलग किस्म का अर्जित और अपना है। मीरां की कविता किसी *कमज़ोर* स्त्री कविता नहीं है। यह एक स्वावलंबी और आत्मनिर्भर और अपनी शर्तों पर जीवनयापन करने वाली स्त्री की कविता है। उसे *कमज़ोर* होने के कारण स्वाभाविक रूप से भक्त नहीं माना गया, जैसाकि हौली भारतीय स्त्री संत-भक्तों के संबंध मानते हैं, सही नहीं है। उसने निरंतर संघर्ष से अपने भक्त होने की अर्हता अर्जित की है। हौली के इस तर्क को मान लिया जाए कि स्त्रियाँ पुरुषों के मुकाबले कमज़ोर और अपूर्ण होती हैं, और यही वजह है कि उन्हें धार्मिक क्षेत्र में अकसर स्वाभाविक भक्त मान लिया जाता है, तो फिर भारतीय समाज में स्त्री भक्त-संतों की संख्या उनके अनुसार होना ज़्यादा चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं है। पुरुषों की तुलना में यह संख्या बहुत कम है।

कुछ विदेशी लेखकों की यह धारणा कि भारतीय चिंतन की मूल विषय वस्तु जगत और जीवन का निषेध है[65], कुछ हद तक अतिशयोक्तिपूर्ण है, लेकिन सर्वथा असत्य नहीं है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जगत और जीवन को मिथ्या मानकर उसकी अनदेखी की प्रवृत्ति भारतीय चिंतन में कुछ हद तक बहुत आरंभ से ही मौजूद रही है। इस प्रवृत्ति ने शास्त्र और धर्म में कई रूप- संहिता, कथा-आख्यान, मिथक आदि अख्तियार किए और इसने भारतीय जनसाधारण के जीवन और जगत के प्रति नजरिए को बहुत दूर तक प्रभावित किया। ख़ास तौर पर संत-भक्तों में यथार्थ जगत और जीवन के प्रति कोई उत्साहपूर्ण लगाव इसी दृष्टिकोण की व्यापक और सहज स्वीकार्यता के कारण नहीं मिलता। इस कारण ही भक्ति आंदोलन से जुड़े संत-भक्तों के समतावादी और मानवतावादी विचारों में भी निराशावादी रहस्यवाद और वैराग्य के कुछ तत्त्व मिलते हैं। मीरां की कविता में भी निराशावाद और वैराग्य का आग्रह है, वह भी *यो संसार चहर की बाजी, सांझ पड़याँ उड़ जासी और इस देह का गरब न करणा, माटी में मिल जासी* जैसी लोकप्रिय ओर लगभग स्वीकार्य धार्मिक-दार्शनिक धारणाओं से बंधी हुई है, लेकिन जगत और जीवन का निषेध उसकी कविता में उस तरह से नहीं है जैसा अन्य मध्यकालीन संत-भक्तों के यहाँ है। उसकी कविता में दृश्य और मूर्त का उत्साहपूर्ण आग्रह है और वह अपनी ऐन्द्रिक संवेदनाओं और कामनाओं को खुलकर खेलने की छूट देती है। वह न तो जीवन और जगत का निषेध करती है और न अपनी ऐंद्रिक संवेदनाओं और कामनाओं का दमन करती है।

मध्यकालीन संत-भक्त *ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या* की लोकप्रिय और लगभग मान्य धारणा में सहज विश्वास के कारण लोकोत्तर के आग्रही थे। उनकी कविता में यह लोकोत्तर ही केंद्रीय सरोकार है, लेकिन मीरां की कविता में वस्तु जगत बहुत सघन और व्यापक रूप में मौजूद है। नदी, तालाब, पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, हवा, बिजली, धरती, आकाश, बादल, बरसात, जंगल, समुद्र, महल अटारी, वस्त्र, आभूषण आदि मीरां की कविता में जिस आग्रह और उत्साह के साथ आते हैं, वैसे किसी और मध्यकालीन संत-भक्त की कविता में नहीं आते। अपने आसपास के वस्तु जगत के प्रति मीरां उदासीन नहीं है। उसकी कविता उसके अपने आसपास के यथार्थ के गतिशील और दृश्य रूपों से ठसाठस भरी हुई है।

जीवन और जगत के निषेध के विचार ने भारतीय जनसाधारण के व्यावहारिक जीवन को दूर तक प्रभावित किया। इस निषेध का व्यावहारिक जीवन में अर्थ था इंद्रियों का सजग दमन। धीरे-धीरे भारतीय जन साधारण में यह धारणा लगभग मान्य हो गई कि इंद्रियों की दासता या जीवन का आनंद धर्म विरुद्ध है और इंद्रियों पर स्वामित्व से ही मुक्ति संभव है। मध्यकाल से पहले ही इंद्रियों के दमन को तो संत-भक्त होने की ज़रूरी अर्हताओं में भी शामिल कर लिया गया। मध्यकालीन संत-भक्तों ने इसीलिए इंद्रियों या मन की दासता की जमकर भर्त्सना की है। कबीर और उनके समानधर्मा संत इस मामले में सबसे अधिक मुखर हैं। कबीर कहते हैं- *मैमंता मन मारि रे घट ही माहिं घेरि।* एक अन्य स्थान पर उन्होंने इंद्रियों की निंदा करते हुए कहा है कि *भगति बिगाड़ी कामियां, इन्द्री केरै स्वाद।* इसी तरह दादूदयाल ने पंचेन्द्रियों को अपने अधीन करने की शिक्षा देते हुए कहा कि *दादू पंचौं यह परमोधिले, इन्हीं को उपदेस।* मध्यकाल के अंतिम चरण में हुए सुंदरदास तो मन की भर्त्सना में सबसे अधिक उग्र और निर्मम हैं। एक जगह उन्होंने कहा कि *मन कौं राखत हटकि करि, सटकि चहुँ दिसि जाइ/सुंदर लटकि रु लालची गटकी विषैफल खाई।* मीरां भी इंद्रिय दमन की इसी लोक धारणा से बँधी हुई है- वह भी मन के मदमाते हाथी पर गुरु ज्ञान के अंकुश रूपी नियंत्रण की आग्रही है, लेकिन उसकी कविता की वस्तु और सरोकार इसकी पुष्टि नहीं करते। उसकी कविता में इंद्रिय संवेदनाओं और कामनाओं की अकुण्ठ और निर्बाध अभिव्यक्ति है। यह कहीं प्रत्यक्ष है, तो कहीं परोक्ष। ख़ास बात यह है कि इस संबंध में अन्य संत-भक्तों की तरह उसमें किसी तरह की अंतर्बाधा या अपराध बोध

नहीं है। कृष्ण से संयोग की उसकी तीव्र और सघन ऐन्द्रिक कामना उसकी कविता में कई तरह से आती है। कभी वह कहती है– *दरसण बिन मोहि जक न परत है, चित मेरो डांवाडोल,* कभी वह कहती है– *आवो मन मोहना जी जोऊं थारी बांट, कभी वह चाहती है– मीरां दासी तुम चरणां की मिलज्यो कंठ लगाई* और कभी वह कामना करती है कि *सांवरिया के दरसण पाऊं, पहर कुसुंभी सारी।* अपने स्वच्छंद मन के संबंध में वह कहती है– *यो मन मेरो बड़ो हरामी यूं मदमातो हाथी।* बरसात में अपनी उल्लसित देह के संबंध में वह कहती है– *रिमझिम बरसै मेहड़ा, भीजै तन सारी हो।* वह कृष्ण पर अपना यौवन न्यौछावर करने के लिए तत्पर है– वह कहती है– *तेरे कारण सांवरे धन जोबन वारों हो / या सेजिया बहु रंग के बहु फूल बिछाए हो।* इसी तरह कृष्ण के रूप सौंदर्य को निरखने का आनंद लेती वह हुई कहती है– पल–पल पिव को रूप निहारूं, निरख–निरख सुख पाती। कृष्ण के लिए उसका प्रेम संवेग बहुत सघन और तीव्र है। वह कहती है– *सखि म्हारो कानूड़ो कळेजे की कोर*। लोक में पर्व–त्योहार उल्लास और आवेग की अभिव्यक्ति के साधन थे। मीरां संत–भक्तों से अलग संसारी स्त्री थी इसलिए ये पर्व–त्योहार भी उसके जीवन का ज़रूरी हिस्सा थे। मीरां की कविता में ऐंद्रिक–कामनाओं और संवेदनाओं से सीधे जुड़े इन पर्व–त्योहारों की मौजूदगी भी ध्यान खींचने वाली है। उसकी कविता में संवेगों की स्वच्छंद अभिव्यक्ति के त्योहार होली की मौजूदगी सर्वाधिक है। कभी वह कहती है– *किण संग खेलूं होली,* कभी वह कहती है– *फागुण के चार होली खेल मना रे* और कभी वह दुखी होकर कहती है– *होली बिन पिय लागै खारी।* होली के साथ–साथ उसकी कविता में सधवा स्त्रियों का त्योहार गणगौर भी आता है। वह कहती है– सांवलिया म्हारै रंगीली गणगोर।

मीरां की कविता में व्यवस्था के प्रति असंतोष, नाराज़गी और विद्रोह का जो उग्र और मुखर स्वर मिलता है, वो उसको उसके समकालीन संत–भक्तों से अलग सिद्ध करता है। यह ऐसा स्वर है जो आमतौर पर भारतीय मनीषियों और संत–भक्तों की सोच और कविता में कम मिलता है। दरअसल भारतीय सामंतवाद के विकास के बरक्स उसके विभिन्न सामाजिक हित संबंधों का समर्थन और पोषण करने वाले जन्मांतर व्यवस्था और कर्मफलवाद जैसे दार्शनिक–धार्मिक सिद्धांत भी अस्तित्व में आए। इन सिद्धांतों ने सामंतवादी व्यवस्था के विभिन्न सामाजिक हित संबंधों को एक सामंजस्यपूर्ण ईश्वरीय व्यवस्था का अंग मानकर जायज ठहराने में निर्णायक भूमिका निभाई। इस व्यवस्था में वर्ण, वर्ग और जाति का भेदभाव, शोषण, अन्याय, अभाव आदि सब ईश्वरीय प्रावधान थे और इनके प्रति किसी प्रकार असंतोष और विद्रोह धर्मविरुद्ध इसलिए गलत था। ये सिद्धांत मानते थे कि जो कुछ दृष्ट हो रहा है उसका अदृष्ट कारण है। *इस चिंतन की कुछ विशिष्टताएँ थीं– जीवन को अस्वीकार करने वाली निष्क्रियता, ध्यान–मग्न में डूबे रहना, निस्संगत्व त्याग का प्रचार करना। बाढ़ और सूखे, बीमारी और कंगाली, शोषण और दमन के सामने मनुष्य असहाय था। प्रकृति और समाज को अपने अनुकूल बदलने की शक्ति से वंचित था। अत: उसने कर्म और आत्मा के शरीरांतरण के सिद्धांत की शरण ली। किसी पर यदि दु:ख और विपत्तियाँ टूट पड़ती थीं, तो यह कर्मों के नियम का अपरिहार्य परिणाम माना जाता था। सामाजिक परिवेश को बदलने का कोई भी प्रयत्न कर्म के नियम और ईश्वर के न्याय को चुनौती देना समझा जाता था। सिर झुकाकर, मौन रहते ईश्वर की इच्छा को स्वीकार कर लेना ही मनुष्य का कर्तव्य था।*[66] इन सिद्धांतों में आस्था ने भारतीय मनीषियों और संत–भक्तों के सोच को बहुत गहराई तक प्रभावित किया। नतीजा यह हुआ कि उनमें सामंतवादी व्यवस्था के हित संबंधों के विरुद्ध असंतोष और विद्रोह की चेतना हमेशा अवरुद्ध रही। ईस्वी सन् के आरंभ से भारतीय चिंतन में बहुत गहराई तक जगह बना लेने वाली इस अंतर्बाधा की ओर संकेत करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि *जन्मांतर व्यवस्था और कर्मफलवाद के सिद्धांत ने ऐसी गहरी जड़ें जमा ली थीं कि परवर्ती युग के कवियों और मनीषियों के चित्त में*

इस जागतिक व्यवस्था के प्रति भूल से भी असंतोष का भाव नहीं मिलता। जो कुछ जगत में हो रहा है, उसका एक निश्चित कारण है, उसमें प्रश्न करने और संदेह करने की जगह नहीं है।[67] मध्यकालीन संत-भक्तों की भी जन्तांतर व्यवस्था और कर्मफलवाद में असंदिग्ध और गहरी आस्था थी इसीलिए उनकी कविता में उनके अपने समय की सामंतवादी व्यवस्था के स्वार्थपूर्ण हित संबंधों के प्रति असंतोष और नाराज़गियाँ का भाव लगभग नहीं के बराबर है। कबीर आदि संत कवि अपने समतावादी विचारों से कुछ हद इससे असहमत होते लगते हैं, अन्यथा सगुण भक्ति परंपरा में तो इस तरह की चेतना बहुत कम है। मीरां की कविता इस मामले में बहुत अलग और असाधारण है। यह सामंती व्यवस्था के धर्म, दर्शन और लोक द्वारा मान्य स्वार्थपूर्ण हित संबंधों को सीधे चुनौती देती है। इनको लेकर इसमें गहरा और उग्र असंतोष और मुखर विद्रोह है। मीरां की कविता इस मामले में कुछ हद तक कबीर से भी आगे है। कबीर एक अमूर्त व्यवस्था को चुनौती देते हैं, जबकि मीरां एक साक्षात और जीवित शत्रु से लोहा लेती दिखती है। उसका विद्रोह उस राज, धर्म और लोक सत्ता के विरुद्ध है, जो शत्रु के रूप में उसके सामने, उसके समय में और उसके स्थान पर है। वह अपने शत्रु मेवाड़ के शासक को चुनौती हुई कहती है- *तुम जावो राणा घर अपनो, मेरी-तेरी नहीं सरी।* सत्ता को ललकारने का उसका स्वर अकसर बहुत उग्र और चुनौतीपूर्ण है। वह कहती है- *राणो म्हारो कांई कर लेसी, मीरां छोड़ दई कुल लाज।* इसी तरह वह एक ओर जगह कहती है- *सीसीद्यो रूठ्यां तो म्हारो कांई कर लेसी।* सत्ता से उसकी नाराज़गियाँ और असंतोष उसकी कविता में बार-बार आते हैं। वह कहती है- *राणाजी थें क्या ने राखो म्हांसूं बैर / थें तो राणाजी म्हारे इसड़ा लागो, ज्यों ब्रच्छन में केर।* इसी तरह वह एक जगह और कहती है- *थारा देस में साध नहीं है, लोग बसे सब कूड़ो।* एक जगह तो वह शासक राणा को मूर्ख कहने में भी संकोच नहीं करती- *मूरख राजा राज करत हो, पंडित फिरत भिखारी।* वह राणा के कानून-कायदे मानने के लिए तैयार नहीं है- इस संबंध में उसका रवैया एकदम दो टूक है। वह कहती है- *राणा जी हूँ अब न रहूँगी तोरी हटकी/साध संग मोहि प्यारा लागै, लाज गई घूंघट की।* वह राणा के आदेशों की अवहेलना करती है। उसका स्पष्ट कथन है कि *राणो कहे सो एक न मांना म्हे, साध दुवारे नित आसी है माय।* वह राणा के देश में रहने के लिए तैयार नहीं है। वह स्पष्ट कहती है- *मैं तो नहीं रहूं राणा जी थांरा देश में रे।* लोक और धर्म की तयशुदा मर्यादाओं की भी मीरां धज्जियां उड़ाती है। वह कहती है कि लोकलाज कुल की मरजादा या में एक न राखूंगी। वह एक और जगह कहती है- *साजि सिंगार बांध पग घुंघरू, लोकलाज तज नाची।* उसे अपनी निंदा-भर्त्सना की कोई चिंता नहीं है। वह कहती है- *कोई निंदो कोई विन्दो, म्हे तो गोविंद के गुण गास्यां।* इस संबंध में वह पूरी तरह निर्भय और निश्चिंत है। उसके मन में अपने आचरण को लेकर कोई दुविधा या संकोच नहीं है। वह स्पष्ट शब्दों में कहती है- अपने घर का परदा करले, मैं विधवा बौरानी। एक और जगह उसका कहना है- मीरां कहै मैं भयी बावरी, कहो तो बजाऊं ढोल।

मध्यकालीन संत-भक्त अपनी कविता में अपनी वैयक्तिक पहचान और अपने सांसारिक संबंधों के संबंध में मौन हैं, जबकि मीरां का कविता में यह सब आग्रहपूर्वक मौजूद हैं। मध्यकालीन संत-भक्त जीवन और जगत के निषेध की मान्य धार्मिक और लौकिक धारणा के कारण अपने जन्म, परिवार, कुटुम्ब, स्थान और सांसारिक संबंधों के द्वंद्व और तनाव को अपनी कविता का सरोकार नहीं बनाते। यह सब उनकी प्राथमिकताओं में नहीं है। पारंपरिक धर्म-दर्शन के अनुसार एक तो यह सब मिथ्या है, इसलिए असार है और दूसरे कर्मफल के सिद्धांत के अनुसार यह पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। मध्यकालीन संत-भक्तों में से कबीर, रैदास आदि ने अपनी जाति का प्रासंगिक उल्लेख जरूर किया है, अन्यथा उनके वैयक्तिक जीवन का कोई साक्ष्य उनकी कविता में नहीं मिलता। मीरां की कविता में उसकी वैयक्तिक पहचान, सांसारिक संबंध और सुख-दुख बहुत मुखर और पारदर्शी ढंग से मौजूद

हैं। मीरां संत-भक्तों की तरह न तो इनके प्रति उदासीन है और न इनको अनदेखा करती है। संत-भक्त अपनी स्थानिक पहचान को लेकर सजग नहीं हैं, लेकिन मीरां इसको याद रखती है। वह कुल मर्यादा छोड़ती है, लेकिन अपनी नहीं छिपाती। एक जगह वह कहती है-*पीहर म्हारो देश मेड़तो छांड़ी कुल की कांणी।* वह अपने पीहर मेड़ता को छोड़ते हुए कहती है- *साध संग मोहि प्यारा लागे, लाज गई घूँघट की/पीहर मेड़ता छोड़ा अपना, सुरत निरत दोइ चटकी।* एक अन्य स्थान पर वह अपनी कविता में अपने पीहर मेड़ता और ससुराल चित्तौड़, दोनों का उनके कुल-वंशों के साथ स्मरण करती है। वह कहती है- *इक कुल राणा त्यारूं, आपणौं, दूजो राइ राठौड़/तीजो त्यारूं राणा मेड़तो, चौथो गढ़ चित्तौड़।* मीरां की कविता में सांसारिक संबंधों का द्वंद्व और त्रास भी है, जो आमतौर पर संत-भक्तों की कविता में नहीं मिलता। मीरां के मेवाड़ के शासक राणा से संबंध तनावपूर्ण है। मीरां कहती है- *सीसोद्यो राणा, प्यालो म्हाने क्यूं रे पठायो/ भली-बुरी तो मैं नहिं किन्हीं, राणो क्यों है रिसायो।* राणा से हो नहीं, सास, ननद और देवर से मीरां के रिश्ते सौहार्दपूर्ण नहीं है। वह कहती है- *सासूजी बरजी ननद भी बरजी, राणोजी दावादार।* एक और स्थान वह कहती है- *सास लड़ै मेरी ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय।* अपनी सास, ननद और देवर के संबंध में उसकी राय अच्छी नहीं है-एक जगह वह कहती है-*सास हटेली, ननद चुगेली, दिवर देवत मुझ गारी।* मीरां का जाति और लोक समाज के साथ रिश्ता भी कटुता और तनाव का है। वह यहाँ भी निंदित और प्रताड़ित है। वह कहती है- *मीरां गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहै बिगड़ी।* इसी तरह एक और स्थान पर वह कहती है- लोग कहै मीरां भई बावरी, न्यात कहै कुल नासी। वह एक सामान्य स्त्री की तरह अपने जीवन के सभी चरणों की दु:ख-तकलीफों और कटुताओं को बार-बार याद करती है। उसके यहाँ संत-भक्तों की तरह तकलीफों का उदात्तीकरण भी नहीं है। मीरां तकलीफ को तकलीफ की तरह ही महसूस करती है और कहती है।

जब ससुराल में मुश्किलें बहुत बढ़ती हैं, तो मीरां एक सामान्य स्त्री की तरह अपने पीहर पक्ष को भी याद करती है। वह कहती है- *म्हारे बाबो सा ने कहियो म्हाने बेगा लेबा आवे।* मीरां चित्तौड़ से मेड़ता गई, लेकिन वहाँ पहुँचने के एक वर्ष बाद ही मालदेव के आक्रमण से मेड़ता छिन्न-भिन्न हो गया। ससुराल से प्रताड़ित अनाथ और निराश्रय भटकती मीरां की मार्मिक अंतर्व्यथा भी एक सामान्य स्त्री की अंतर्व्यथा ही ज़्यादा है। वह कहती है-*सगो सनेही मेरो न कोई, बैरी सकल जहान।* एक जगह वह और कहती है-*या भव में मैं बहु दुख पायो, संसा रोग निवार।* मीरां अंतत: परेशान होकर द्वारका चली गई। वह कहती है- *सादां रे संग जाय द्वारका, मैं तो भज्या श्री रणछोड़।* द्वारिका पहुँचकर श्रीकृष्ण में डूबने के बाद भी राणा के लिए उसके मन की कटुता कम नहीं हुई। अपना घर और देश छोड़ने की तकलीफ उसको वहाँ भी सालती रही। इसके लिए वह राणा को वहाँ भी कोसती रही। लोक में प्रचलित एक पद में मीरां अपने देश को एक सामान्य स्त्री की तरह राणा को कोसती हुई इस तरह याद करती है। वह कहती है- *आंबा पाक्या, कळहर कैरी, निंबूडा म्हारे देस। उदपुर रा राणा किण विध छोड्यो देस, मेवाड़ी राणा कण पर छोड्यो देस।*[68] मतलब यह है कि आम पक गए होंगे, केरियां आ गईं होंगी। मेरे देश में तो केवल नींबू हैं। हे राणा! तू नहीं जानता क्या कि मैंने देश क्यों छोड़ा। एक और स्थान पर तो वह राणा को अपना झूठा और श्रीकृष्ण को अपना असली पति कहने से भी नहीं चूकती। वह कहती है- *राणा थे छो म्हारा झूंठा भरतार, सांचा छै श्री हरि सांवरा।*

मीरां संत-भक्तों की तरह संसार विरत स्त्री नहीं थी इसलिए उसकी अभिव्यक्ति और भाषा में लोक बहुत सघन और व्यापक है। मध्यकाल में देशाटन और पारस्परिक संपर्क-सान्निध्य से संत-भक्तों की अभिव्यक्ति और भाषा के कुछ रूप रूढ़ हो गए थे। ये रूप स्थान भेद के बावजूद कमोबेश सभी संत-भक्तों की कविता में मिलते हैं। ख़ास बात यह है कि मीरां की कविता में इन

रूढ़ अभिव्यक्ति और भाषा रूपों का प्रयोग बहुत कम है। संत-भक्तों से अलग मीरां एक संसारी स्त्री थी और उसका उठना-बैठना और संवाद अपने कुटुम्ब-कबीले और लोक समाज के साथ था। वह लोक विमुख और वीतराग स्त्री नहीं थी- उसका जीवन राजा-प्रजा, माता-पिता, सास-ससुर, देवर-जेठ ननद-भाभी, सखि-सहेली आदि रिश्तों के दायरे के भीतर था। इनके साथ उसके सुख-दुख और राग-द्वेष के रिश्ते थे। उसकी कविता में इसीलिए संत-भक्तों से अलग इस पारिवारिक और सामाजिक जीवन के रूढ़ दैनंदिन अभिव्यक्ति और भाषा रूपों की भरमार है। मीरां नश्वर सांसारिक जीवन के लिए कहती है- *जीवणो दिन चार,* आकुल-व्याकुल होने पर उसके मुंह से निकलता है- *हियो फाटत मेरी छाती,* अपने दुर्भाग्य पर टिप्पणी करते वह कहती है- अपणा *करम का ही खोट, दोष कांई दीजे री आली।* अन्यमनस्क होने पर वह कहती है- *दिन नहीं भूख रैण नहीं निदरा, भोजन भावन गयी,* अपने दुर्भाग्य पर दु:खी होकर वह कहती है- *मैं मंदभागण करम अभागण,* सत्ता और समाज को चुनौती देना हो तो उसका कथन है- *मीरां कहै मैं भयी रावरी, कहो तो बजाऊं ढोल* और अभ्यर्थना लंबी हो रही हो, तो उसके मुँह से निकलता है कि *ऊभी-ठाढी अरज करत हूं, अरज करत भयी भोर।* इनके अतिरिक्त *मेरा नैणा बाण पड़ी, खाय न खूटे चोर न लूटे, अबके जिन टालो दे जावो, पंडर हो गए केस, रहूंगी बैरागण होइ री, अधबिच भत छिटकाज्यो, तुम बिनि नींद न आवै हो, घायल की गति घायल जाणै, धान न भावै नींद न आवै, दियो रे लियो तेरे संग चलेगो, घड़ी एक नहीं आवड़े और करम गति टारे नहीं टरे* जैसी लोक सुलभ कथन भंगिमाओं की मीरां की कविता में भरमार है।

मीरां की भाषा और मुहावरा अपने समकालीनों से भिन्न पूरी तरह स्थानीय है। यह भाषा और उसका ख़ास मुहावरा राजस्थान के मेवाड़-मारवाड़ के अलावा और कहीं इस्तेमाल नहीं होता। सहेलियों से बाँहें खोल कर मिलने के आह्लाद के लिए वह कहती है- *आवो मिलो सहेलड़्यां, बाथां सुख लीजै हो।* भगवान कृष्णके प्रेम में सराबोर हो जाने के लिए उसकी व्यंजना है कि झकोलो लाग्यो जी रंग गिरधर को आन। अपने से संबंधित लोकापवाद के बारे में कहती है- *मेरी बात नहीं जग छानी। आकुल-व्याकुल होने पर वह कहती है कि खिंण आंग़ण खिंण डागले रै, खिंण-खिंण ऊभीं होई। ओलूं (याद), ओळमा (उपालंभ), सगपण(संबंध), रूडा (सुंदर), रीज्या (मुग्ध), डीकरी (लड़की), डागले (छत)* आदि सैंकड़ों शब्द मीरां की भाषा में ऐसे हैं, जो केवल मेवाड़ी-मारवाड़ी बोलियों में हैं।

मीरां के सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि वह गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए भी संत-भक्तों के रूढ़ अभिव्यक्ति और भाषा रूपों का सहारा नहीं लेती। यहाँ भी वह अपने स्त्री लैंगिक और दैनन्दिन जीवन की सामान्य वस्तुओं को ही सादृश्य और बिंब- प्रतीकों के रूप में चुनती है। उसका मुहावरा पूरी तरह स्थानीय और निजी है। *कांकण (कंगन), मूंदरो (अंगूठी), घाघरो (लहंगा), दुलड़ी (दो लड़ी माला), दोवड़ो (आभूषण विशेष), अखोटा (कान का आभूषण), झूटणो (झुमका), बेसरि (नथ), चूड़ो (हाथी दांत की चूड़ियां), राखड़ी (सिर का आभूषण)* आदि उसके द्वारा रोज बरते जाने वाले आभूषण और वस्त्र ही उसकी गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूति के सादृश्य और बिंब-प्रतीक बनते हैं। ख़ास बात यह है कि आध्यात्मिक संबंध के लिए इस तरह के केवल मेवाड़-मारवाड़ में प्रचलित स्थानीय प्रतीकों-सादृश्यों का उपयोग किसी संत-भक्त ने नहीं किया। यह शब्दावली और भाषा मध्यकालीन संत-भक्तों में चलन में ही नहीं थी।

मीरां की कविता की भाषा संत-भक्तों से अलग, स्त्रियों की ख़ास भाषा है। अधिकांश मध्यकालीन संत-भक्त कुछ स्थानिक विशेषताओं के साथ एक रूढ़ साधु भाषा का इस्तेमाल करते हैं। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी जब संत-भक्त हो जाती हैं, तो उनकी भाषा भी साधु भाषा हो जाती है। मध्यकालीन स्त्री संत दयाबाई और सहजोबाई की भाषा यही साधु भाषा है। इनकी कविता

में आया मुहावरा और बिम्ब-प्रतीक कबीर और उनकी परंपरा से लिए गए हैं। ख़ास बात यह है कि इन स्त्री संतों की भाषा में इनके संत होने के तमाम साक्ष्य और लक्षण मौजूद हैं, लेकिन इसमें उनके स्त्री होने की कोई छाप नहीं मिलती। मीरां अपने इन समकालीन पुरुष और महिला संत-भक्तों से अलग है। इस भाषा में उसके स्त्री होने का दैन्य, असहायता, शिकायतें, उलाहने, ईर्ष्या, सुख-दुख, द्वन्द्व और चिन्ता सब आते हैं। उसका आग्रह और निवेदन आद्यंत स्त्रियोचित है। वह लगभग हर दूसरे-तीसरे पद में यह जरूर कहती है- *अरज करूं अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।* उसकी शिकायतें स्त्रियोचित ईर्ष्यामय है- *म्हैं बुरी छां, थांके भली है घणेरी, तुम है एक रसराज।*

उसका रोना-कलपना और विचलित होना भी स्त्रियों जैसा है- फारूंगी चीर करूं गल कथा, रहूंगी वैरागण होई री। उसे आम स्त्रियों की तरह प्रिय वियोग में दिन में भूख नहीं लगती और रात में नींद नहीं आती (*दिन नहीं भूख रैण नहिं निन्दरा, यूं तन पल-पल छीजै हो*)। वह स्त्रियों की तरह ही ऊंचे चढ़-चढ़ कर प्रियतम की प्रतीक्षा करती है (*ऊंची चढ़-चढ़ पंथ निहारूं, रोय रोय अंखियाँ राती*), आँचल से अपने आँसू पोंछती है (*लेकिर अंचरो अंसुवन पूंछै, ऊघरि गात गयी*) और शकुन के लिए सोनचिड़ि से उड़ जाने का आग्रह करती है (उड़ जावो म्हारी सोन चड़ी)। वह स्त्रियों की तरह ही प्रिय आगमन पर आह्लादित होती है *(जोसीड़ा ने लाख बधाई रे, अब घर आए श्याम/आज आनंद उमंगि भयो है, जीव लहै सुख धाम), सखियों के साथ मंगल गीत गाती है (पांच सखि इकट्ठी भई मिलि मंगल गावै हो) और रत्न न्यौछावर कर आरती सजाती है (रतन करूं नेछावरी ले आरति साजूं हो)।*

स्पष्ट है कि मीरां का विरह कोई स्त्री व्याधि नहीं है। यह भक्ति के प्रपत्ति रूप का विस्तार है, जिसमें प्रिय की अनुपस्थिति भक्त को विचलित करती है। प्रिय के प्रति लालसा का स्त्री लैंगिक रूप कई पुरुष भक्तों के यहाँ भी है और यह बहुत स्वाभाविक है। भक्त स्त्रीलैंगिक लालसा का यह रूप इसलिए इस्तेमाल करते हैं क्योंकि स्त्री विरह का संवेग स्वाभाविक रूप से सघन और तीव्र होता है। भारतीय साहित्य में विरह केवल स्त्री लैंगिक नहीं है- इसमें पुरुष विरह भी है और इसकी निरंतर परंपरा है। भारतीय साहित्य और खासतौर पर उसमें भक्ति साहित्य में विरह की इस सघन और निरतर मौजूदगी का कारण भारतीय समाज की कथित स्त्री-पुरुष विषमता नहीं है। भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष की हालत हैसियत का सरलीकरण नहीं किया जा सकता। यहाँ इस संबंध में पर्याप्त वैविध्य है और क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों के अनुसार यह बदल भी जाता है। मीरां का समाज इस मामले में पिछड़ा नहीं है। यहाँ कुछ हद तक लैंगिक भेदभाव है, जो अकसर यूरोप सहित सभी समाजों में होता है, लेकिन यहाँ स्त्रियों के स्वावलंबन, सुरक्षा और संरक्षण की चिंताएँ भी हैं। मीरां की कविता को केवल उसके एक पद के आधार पर विरह के पुरुष के खेल तक सीमित करना युक्तिसंगत नहीं है। उसकी कविता के सरोकारों का दायरा बहुत बड़ा है- उसमें कथित ईश्वरीय व्यवस्था का विरोध, निजी राग-द्वेष, मूर्त जीवन-जगत् का आग्रह आदि भी हैं। किसी समाज की सांस्कृतिक बुनावट में कई चीजें आती-जाती रहती है, लेकिन कुछ ऐसा भी होता है, जो उसमें हमेशा रहता है और यह बदल-बदलकर रहता है। यह रहना-बदलना इतना अदृश्य और अनायास होता है, उसकी बहुत मुश्किल होती है। विरह लौकिक हो, अलौकिक हो या फिर लौकिक से अलौकिक हो, यह भारतीय सांस्कृतिक व्यवहार और बुनावट में सदियों से है और रूप बदल-बदलकर है। इसको किसी समय विशेष के प्रचलित विश्वास या विचार के तार्किक सरलीकरण में समझना बहुत मुश्किल काम है। *विरह एक खेल है। यह पुरुष का खेल है- स्त्री के वस्त्रों और भावनाओं से खलने का खेल-* हौली का यह निष्कर्ष भी एक खास प्रकार विचार में 'विरह' के तार्किक सरलीकरण से ज़्यादा कुछ नहीं है।

संदर्भ और टिप्पणियाँ-

1. रवींद्रनाथ टैगोर, *विजन ऑफ हिस्ट्री,* अनुवाद सिबेश भट्टाचार्य एवं सुमिता भट्टाचार्य (शिमला- इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी, 2003), 29.

2. *स्ट्रैटन हौली, श्री भक्ति वायसेज* (दिल्ली: ओक्सफोर्ड युनिर्सिटी प्रेस, 2005).

3. स्ट्रैटन हौली, *भक्ति के तीन स्वर,* हिंदी अनुवाद अशोक कुमार (नयी दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2019).

4. वही, 129-141.

5. *मीरां, मीरां बृहत् पदावली,* भाग-1, संपा. हरिनारायण पुरोहित (जोधपुर- राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, 2006), 174.

6. *स्ट्रैटन हौली, भक्ति के तीन स्वर,*133.

7. वही, 133.

8. वही, 141.

9. रवींद्रनाथ ठाकुर, *रवींद्रनाथ के निबंध,* भाग-1, 366.

10. ए. के. रामानुजन, *टॉकिंग टू गोड इन मदर टंग,* मानुषी, अंक-50-52, जनवरी-जून, 1989, 9.

11. *स्ट्रैटन हौली, भक्ति के तीन स्वर,*141.

12. ए के रामानुजन, *टाकिंग टू गोड इन मदर टंग,* 9.

13. रबींद्रनाथ टैगोर, *विजन ऑफ हिस्ट्री,* 29.

14. स्ट्रैटन हौली, *भक्ति के तीन स्वर,* 134.

15. जयशंकर प्रसाद, *काव्य कला और अन्य निबंध* (इलाहाबाद- भारती भंडार, 1939), 5.

16. *ऋग्वेद संहिता,* 10/95 (दिल्ली- चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रित संस्करण 1995), 712.

17. भरत मुनि, *नाट्यशास्त्र,* अनुवाद मनमोहन घोष (कलकत्ता- दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1950), 1- 118-147.

18. भास, *स्वप्नवासवदत्ता,* संपा. टी. गणपति शास्त्री (त्रिवेंद्रम- गवर्नमेंट ऑफ महाराजा त्रावणकोर, 1912), 48-61.

19. कालिदास, *घटकर्परम्,* संपा. मधुसूदन कोल शास्त्री (श्रीनगर- गवर्नमेंट ऑफ़ महाराजा महाराजा हरिसिंह ऑफ़ जम्मू-कश्मीर, 1945).

20. वाल्मीकि, *श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्,* संपा. कुप्पुस्वामी सास्त्रीगल, एस. कृष्णा सास्त्रीगल आदि (मद्रास- आर. नारयण स्वामी अय्यर,), 392.

21. कालिदास, *मेघदूतम्,* संपा. रमाशंकर त्रिपाठी (वाराणसी- विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण 2020).

22. जयदेव गोस्वामी, *गीतगोविंदम्,* अनुवाद केशव गोस्वामी (मथुरा- श्री भक्ति वेदांत तीर्थ महाराज, श्री केशव गौड़ीय मठ, 2003), 181-208.

23. विजयदान देथा, *बातां री फुलवाड़ी,* (जोधपुर- राजस्थानी ग्रंथागार, द्वितीय संस्कण 2010), 14- 9 एवं 295.

24. स्ट्रैटन हौली, *भक्ति के तीन स्वर,* 133.

25. वही, 133.

26. जयशंकर प्रसाद, *काव्य कला और अन्य निबंध,* 5.

27. स्ट्रैटन हौली, *भक्ति के तीन स्वर,* 135.

28. रवींद्रनाथ ठाकुर, *एकोत्तरशती* (नयी दिल्ली: साहित्य अकादेमी, 1958),144.

29. शशि अरोड़ा, *राजस्थान में नारी की स्थिति* (जोधपुर- हिन्दी साहित्य प्रकाशन मंदिर, 1995), 77.

30. जेम्स टॉड, *एनल्स एंड एंटीक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान,* संपा. विलियम क्रूक, (दिल्ली- मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रित संस्करण, 1971, लंदन प्र.सं.1920), 1- 744.

31. शशि अरोड़ा, *राजस्थान में नारी की स्थिति,* 60.

32. वही, 83.

33. अलक्जेंडर किनलॉक फार्ब्स, *सांस्कृतिक गुजरात* (रासमाला के अंतिम भाग का अनुवाद) अनुवाद गोपालनारायण बहुरा (जयपुर: पब्लिकेशन स्कीम, 1993), 25.

34. कुमकुम संगारी, *मीरांबाई का भक्ति और आध्यत्मिक अर्थनीति,* हिन्दी अनुवाद-अनुपमा गुप्ता (नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2012), 51.

35. जेम्स टॉड, *एनल्स एंड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान,* 1- 744

36. रिपोर्ट-*मरदुमशुमारी राज मारवाड़* 1891 ई.- राजस्थान की जातियों का इतिहास एवं रीतिरिवाज़, संपा. हरदयालसिंह एवं मुंशी देवीप्रसाद (जोधपुर- राजस्थानी ग्रंथागार, 2010, प्रथम संस्करण 1894), 20.

37. परिता मुक्ता, *अपहोल्डिंग दि कॉमन लाइफ- दि कम्यूनिटी ऑफ मीराबाई* (कोलकाता: ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कोलकाता, 1997), 69.

38. गौरीशंकर ओझा, *उदयपुर राज्य का इतिहास* (जोधपुर-राजस्थानी ग्रंथागार, 1996-97, प्र.सं.1928), 333.

39. वही, 282.

40. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, *सिरोही राज्य का इतिहास* (जोधपुर- राजस्थानी ग्रंथागार, पुनर्मुद्रित संस्करण 1997), 225.

41 गौरीशंकर हीराचंद ओझा- *राजपूताने का इतिहास*- जोधपुर राज्य का इतिहास, (राजस्थानी ग्रंथागार, 1997), 1- 285.

42. हरिनारायण पुरोहित, *परंपरा,* भाग-63-64 (चौपासनी जोधपुर- राजस्थानी शोध संस्थान, 1982), 69.

43. शशि अरोड़ा, *राजस्थान में नारी की स्थिति,* 80

44. राजेन्द्रप्रसाद भटनागर, *मेवाड़ का राज्य प्रबन्ध एवं महाराणाराजसिंहकालीन दो बहियाँ* (उदयपुर- सूर्य प्रकाशन संस्थान, 1987).

45. शशि अरोड़ा, *राजस्थान में नारी की स्थिति,* 72 और मेवाड़ संस्कृति और परंपरा, 75

46. रिपोर्ट-*मरदुमशुमारी राज मारवाड़ 1891 ई.*, 21

47. शशि अरोड़ा, *राजस्थान में नारी की स्थिति,* 71

48. *अलक्जेंडर किनलॉक फार्ब्स,* संस्कृतिक गुजरात, 141

49. गौरीशंकर हीराचंद ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास, 339.

50. शशि अरोड़ा, *राजस्थान में नारी की स्थिति,* 81.

51. वही, 39.

52. देखिए- रिपोर्ट-*मरदुमशुमारी राज मारवाड़ 1891 ई और शशि अरोड़ा,* राजस्थान में नारी की स्थिति, 47.

53. देखिए- रिपोर्ट-*मरदुमशुमारी राज मारवाड़ 1891 ई और शशि अरोड़ा, राजस्थान में नारी की स्थिति,* 44.

54. नीरजा भट्ट, *राजरत्नाकरमहाकाव्य में इतिहास और संस्कृति,* राजरत्नाकरमहाकाव्य, संपा. मूलचंद पाठक (जोधपुर: राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, 2000), 3.

55. अलक्जेंडर किनलॉक फार्ब्स, *सांस्कृतिक गुजरात,* 219.

56. *मेवाड़ के राजाओं की राणियों, कुंवरों और कुंवरियों का हाल* (*बड़वा देवीदान की ख्यात- संपा. देवीलाल पालीवाल*), साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1985, 1.

57. गौरीशंकर हीराचंद ओझा *उदयपुर राज्य का इतिहास,* 342.

58. मेवाड़ के राजाओं की राणियों, *कुँवरों और कुँवरियों का हाल,* 7.

59. गोपीनाथ शर्मा, *राजस्थान के इतिहास के स्रोत* (जयपुर- राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1973), 156.

60. धर्मपाल शर्मा, *मेवाड़ संस्कृति और परंपरा* (उदयपुर- प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1999), 11.

61. नीरजा भट्ट, *राजरत्नाकरमहाकाव्य में इतिहास और संस्कृति,* राजरत्नाकरमहाकाव्य, 72.

62. स्ट्रैटन हौली, *भक्ति के तीन स्वर,* 136.

63. वही, 136.

64. मीरां की कविता विषयक आलेख के इस भाग में कवितांश, अन्यथा उल्लेख न हो तो, हरिनारायण पुरोहित द्वारा प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के लिए संपादित *मीरां बृहत् पदावली,* भाग-1 (2006) से उद्धृत हैं।

65. के दामोदरन, *भारतीय चिंतन की परंपरा,* हिन्दी अनुवाद जी. श्रीधरन (नयी दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण 1997), 513. 66. वही, 514.

67. हजारीप्रसाद द्विवेदी, *हिंदी साहित्य की भूमिका* (नयी दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997), 118.

68. यह भजनांश मीरां के उपलब्ध पाठों में सम्मिलित नहीं है। यह पश्चिमी राजस्थान के लोक गायकों द्वारा गाया जाता है। यहाँ यह पश्चिमी राजस्थान के मेघवाल जाति के भजनीक पद्माराम-महेशाराम के ऑडियो कैसेट मिस्टिक लव (कोमल कोठारी द्वारा कल्पित और निर्देशित) से उद्धृत किया गया है। मीरां के लोक प्रचलित भजनों का यह कैसेट 1998 में निनाद, मुम्बई ने जारी किया था।

सम्पर्क - 607, मैट्रिक्स पार्क, धनसेरी वाटिका के पास,
न्यू नवरतन कॉम्पलेक्स, भुवाना, उदयपुर- 313001
मो. 94143-25302

आगा खां महल

हे आगा खां के महल
अजर तू अमर हो गया
तेरी मिट्टी में वीरों का मान भरा है
बन्दी के बलिदानों का अभिमान भरा है
तेरे आंगन में आकर जगदम्बा सोई
तेरा प्रांगण, आज पुजारी हरा भरा है।

- पं. भरत व्यास